

सांस्कृतिक-संवर्धन में भाषा-साहित्य का प्रदेय

डॉ. विनोद कुमार, डॉ. नीरज शर्मा

Abstract

भाषा और साहित्य किसी भी देश की संस्कृति और सांस्कृतिक सम्बन्धों का प्रमुख आधार होती है। भारत के सन्दर्भ में भी यह अक्षरशः सत्य है। भारतीय संस्कृति की पहचान इसकी सामरस्य, सामनस्य और सामंजस्य की भावना है। यही पवित्र शाश्वत भावना हमारी संस्कृति की महती परम्परा भी है और समयानुसार नित्य-नवोन्मेषालिनी परिवर्तनशीलता इसकी आधुनिकता का आधार भी है। हिन्दी भाषा और साहित्य के नेतृत्व में अन्य विविध भाषाओं, उनके साहित्य और भारत-वासियों और प्रवासियों के अनेकविध सृजनात्मक योगदान एवं प्रयास को सतत समाज की भूमिका के रूप में देखा जाना चाहिए। वैदिक ऋचाओं, औपनिषदिक मणियों एवं पौराणिक आगार-ग्रन्थों में विहित सांस्कृतिक समन्वय और सामरस्य की अद्भुत भावधारा, विश्व की प्राचीनतम एवं गुरुतम गंगा-स्वरूपा भारतीय संस्कृति जो हमारी अमूल्य धरोहर है, को धारण करने का दुष्कर कार्य शिव-स्वरूपा विश्व-भाषा संस्कृत ने सहजता के साथ किया है। यह संस्कृत भाषा ही है, जिसने शताब्दियों-सहस्राब्दियों के संचित ज्ञान-विज्ञान को आद्यतन अपनी अपूर्व सामासिकता के कारण संभाले रखा है, सम्पूर्ण भारत की आधुनिक भाषाओं का व्यवहार करने वाले हम सर्वदा संस्कृत के प्रति श्रद्धा – नत हैं। आज भी भारत की समस्त भाषाएँ इसी वात्सल्यमयी जननी केस्तन्यामृत से पुष्टिपा रही हैं। समस्त भारतीय भाषाओं को जोड़ने वाली कड़ी यदि कोई भाषा रही है तो वह संस्कृत ही रही है और आज राष्ट्र की प्राचीन धरोहर को संभालन का उत्तरदायित्व राष्ट्र-भाषा पदाधिकारिणी हिन्दी के नेतृत्व में आधुनिक भाषाओं के कन्धों पर आगया है, जिसे उन्होंने ने सहर्ष स्वीकार हीन हीं किया, अपने धर्म का पालन करते हुए आशानुरूप अपने कर्तव्य का निर्वहण भी किया है। हिन्दी भाषा और साहित्य के पास जो रूप-रंग, चाल-ढाल, जो ज्ञान-विज्ञान, कला-साहित्य का संचय है, उसमें संस्कृत के माध्यम से प्राप्त भारतीय प्राचीन संस्कृति की झलकियाँ हिन्दी साहित्य को गुरुत्तर बनाने में एक धूरी का काम निरन्तर कर रही हैं।

Key Words: संस्कृति, धर्म और दर्शन, प्रगतिशीलता, असंप्रदायिकता, सहिष्णुता, सांस्कृतिक अखण्डता, सृजन और अनुवाद, सामाजिक उन्नति, व्यक्तिगत विकास, सत्यं शिवं और सौंदर्य, सामासिकता, सांस्कृतिक सम्बन्ध, सामरस्य, सामनस्य और सामंजस्य, शाश्वत परम्परा, नित्य-नवोन्मेषालिनी परिवर्तनशीलता, भाषा और साहित्य, सृजनात्मक, सतत समाज।

Introduction:

भारतीय संस्कृति समस्त विश्व के लिए एक वरदान है और इसमें तनिकभी संदेह नहीं कि संस्कृत की इस अमूल्य धरोहर से अंशदान लेकर विश्व के अनेक राष्ट्रों ने अपने ज्ञान-विज्ञान और वैभव को उत्कर्ष दिया है और इस कार्य की सम्पूर्णता में देश-विदेशके साहित्य-मनीषियों, दार्शनिकों, इतिहासवेत्ताओं ने न केवल स्वयं संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया वरन् संस्कृत-साहित्य का गहन अध्ययन किया है और उससे प्रेरणा लेकर अपनी अपनी भाषाओं में अभिव्यंजित कर अपने भाषा-साहित्य जगत को अनुपम उपहार दिया है, जिसकी प्रशंसा विश्व के अनन्य प्रसिद्ध विद्वानों ने की है और भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत साहित्य को सिर-माथे पर रख कर माना है।

।दंसलेमेरू

दिदेरो ने भारतीय धर्म और दर्शन पर विश्वकोश(1751) लिखा, 1770 में दिदेरो द होलबक एवं नाइगोकी सहायता से एबे रायल ने 'फिलॉसॉफीकल एण्ड पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ द यूरोपियन्स टू दइण्डियाज' प्रकाशित किया।¹ जर्मन पादरी हेनरिक रॉथ (1610-88) को प्रथम यूरोपियन माना जाता है, जिसने लेटिन भाषा में संस्कृत 'हिडेनडम' में पुर्तगाली अनुवाद के आधार पर संस्कृत कवि भर्तृहरि की लगभग दो सौ सूक्तियों को शामिल किया गया। इसके अतिरिक्त हिन्दु रीति-रिवाजों तथा धर्म की व्याख्या के साथ-साथ वेदों का उल्लेख भी इस पुस्तक में प्राप्त होता है। 1663 में इस पुस्तक का जर्मन में अनुवाद किया गया और हर्डर (1744-1813) ने अपनी पुस्तक 'स्टिमेन डेर फोल्कर इन लीडर्न' (गीतों में जनता की आवाज) में इसके विषयको प्रकाशित किया। पंचतन्त्र की कहानियों के बाद जर्मनी में ज्ञात होने वाली यही प्रथम भारतीय साहित्यिक कृति है। जर्मन पादरी जोहान अंसर्ट हैंक्सलीडेन ने संस्कृत व्याकरणको लेटिन में संकलित किया। इसी प्रकार से पादरीयोहांस फिलिपस द्वारा भारतीय साहित्य के आदिकाल पर किया गया काम भी बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है।² 785 ई. में विल्किन्स द्वारा भगवद्गीमता का अंग्रेजी में अनुवाद किया गया, जिसे सीधे संस्कृत से यूरोपीय भाषा में अनुवादित प्रथम संस्कृतग्रंथ माना जाता है।³ विलियम जोन्स ने 1792 में जयदेव के 'गीत गोविन्द' का अनुवाद किया और कालिदास के 'ऋतुसंहार' के मूल पाठ का प्रकाशन कराया। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य जो उन्होंने किया वह था 'मनुस्मृति' का अनुवाद, जो उनकी मृत्यु के बाद 'आर्डिनेन्सऑफ मनु' नाम से 1794 में प्रकाशित हुआ। एक बात और भी महत्त्व की है कि जोन्स को हीवह अंग्रेज व्यक्ति माना जाता है, जिसने निश्चित रूप से संस्कृत के साथ ग्रीक, लैटिन, फारसी, जर्मनी और सेल्टिक भाषाओं का वंश परम्परागत सम्बन्ध निर्धारित किया और बताया कि इन सभी भाषाओं में संस्कृत आश्चर्यजनक रूप से अधिक समृद्ध है तथा ग्रीक के साथ साम्य इनके उदगटम के एक ही स्रोत होने की ओर संकेत है।⁴ जोन्स के इन कार्यों का बहुत अधिक प्रभाव प्राच्यविद्या के अध्ययन पर पड़ा और सम्पूर्ण विश्व के विद्वान संस्कृत पाण्डुलिपियोंकी खोज में ऐसे उत्साह से प्रवृत्त हुए जैसे 'आस्ट्रेलिया के स्वर्णपत्रों के प्रतिअन्वेषक निकल पड़े हों।⁵ द्यूत पेरों यद्यपि संस्कृत नहीं जानते थे, तथापि उनके द्वारा किया गया उपनिषदों का अशुद्ध अनुवाद भी यूरोपीय साहित्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण देन सिद्ध हुआ, जिसे जर्मन दार्शनिक शोलिंग और शॉपेन हॉवर ने भी 'मानवकी उच्चतम बुद्धि का प्राकट्य' बताया।⁶

यूरोप में भारतीय साहित्य और संस्कृति के अध्ययन की बहुत प्रगति हुई। उनकी दृढ़

मान्यता थी कि फ्रांस में भारतीय संस्कृति का अत्यधिक प्रभाव पड़ा और लोग भारतीय साहित्य को आदरपूर्वक एवं रुचि पूर्वक पढ़ते थे। 1868 में 'इकोल देहॉत एत्युदे' की स्थापना के बाद भारतीय विद्या अध्ययन के लिए एक नया केन्द्र खोला गया। अन्य बहुत से फ्रेंच संस्कृत विद्वानों में मुख्य रूपसे भारतीय काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र पर कार्य करने वालों में से पॉली रेनॉल्ड, हावेन बेनाल, आगस्त बार्थ, एबेल बरगाइन और एमिली सेनार्त्त थे। बार्थ ने अपने जीवनके चालीस वर्ष भारतीय धर्मों का उनके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करने तथा भारतीयविद्या के विविध क्षेत्रों में प्रकाशित ग्रन्थों की समालोचना करने में व्यतीत किया। बरगाइन ने एक युगान्तकारी पुस्तक 'द वैदिक रिलीजन एकाॅर्डिंग टू द हिम्स ऑफ द संहिताऑफ द ऋग्वेद' लिखी। जर्मन-मनीषी प्रो. मैक्समूलर ने भारतीय संस्कृति तथा संस्कृत साहित्य से प्रभावित होकर ऋग्वेद सहित अनेक भारतीय ग्रन्थों पर गवेषणा करते हुए ग्रन्थ-रचना की, जिनका प्रकाशन 'सीक्रेट बुक ऑफ दि ईस्ट' पुस्तकमाला के रूप में हुआ है। प्रो. पालड्येन के द्वारा की गई उपनिषदों की समीक्षा सहित ग्रन्थ 'दि फिलासफी देर उपनिषदिस' पढ़ने से प्रतीत होता है कि वे इस महान दर्शन से कितने अधिक प्रभावित थे, यहाँ तक कि उन्होंने अपना नाम भी बदलकर 'देवसेन' रख लिया था। उपर्युक्त संक्षिप्तसा विवेचन-अवलोकन, जिसमें यह संकेतित है कि विश्वभर के लगभग सभी विद्वानों के मन में भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रति अपार आकर्षण था और बहुत से विद्वानों ने इसकी गुणवत्ता एवं महत्ता को विभिन्न रूपों में अंगीकार करते हुए अपनी भाषा, दर्शन एवं साहित्य को लाभान्वित किया है।

भारतीय संस्कृति में चार बातें बहुत ही महत्वपूर्ण हैं— प्रगतिशीलता, असंप्रदायिकता, सहिष्णुता और सांस्कृतिक अखण्डताकी भावना। सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया और हिन्दी साहित्य नामक अपने आलेख में राजेश्वर गंगवा रस्पष्ट कहते हैं कि सचमुच भारत एकमहासागर है, भारतीय संस्कृति महासागर है, विश्व की तमाम संस्कृतियां आकर इसमें समाहित हो गई हैं। आज जिसे आर्य संस्कृति, हिन्दू संस्कृति आदि नामों से जाना जाता है, वह वस्तुतः भारतीय संस्कृति है जिसकी अजस्रधारा सिंधु घाटी की सभ्यता, प्राग्वैदिक और वैदिक संस्कृति से झरती हुई नवोन्मेष काल तक बहती रही है। अनेक अनेक धर्मों, सभ्यताओं और संस्कृतियों को अपने में समाहित किये हुए इस भारतीय संस्कृति को सामासिक संस्कृति ही कहना उचित है। सांस्कृतिक समन्वय का यह रूप भारत की सभी भाषाओं के साहित्य में परिलक्षित होता है। हिन्दी साहित्य को भी सांस्कृतिक समन्वय का भाव विरासत में मिला है और हिन्दी ने इस विरासत को बखूबी संभाला है। हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक युग में देश में बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव, शाक्त आदि नानामतमतांतर प्रचलित थे। वेदों और उपनिषदों पर आधारित ब्राह्मण धर्म श्रमण कार्य का विरोधी था। ब्राह्मणों और श्रमणों में नकुल सर्प संबंध माना जाता था, लेकिन शनैः शनैः इन दोनों धर्मों ने एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता का रुख अपनाना शुरू कर दिया। ब्राह्मण धर्म ने बौद्धों और जैनियों की अहिंसा, तपत्याग की भावना को मान्यता दी, तो ईश्वर विरोधी बौद्धकालांतर में बुद्ध को ही भगवान मानने लगे। महायानी भगवान बुद्ध की मूर्ति की पूजा अर्चना वैसे करने लगे।

हिन्दी के आदि — स्वरूप अपभ्रंश में ही इस समन्वयात्मक दृष्टि की झलक देखी जा सकती है। अपभ्रंशगद्यकावर्ण्य विषय मुख्यतः जैन धर्म है। इसी काल में कश्मीर में शैवमत फलफूल रहा था। इस मत ने आगे चलकर अनेक रूप धारण किये। इस मत में शिव और शक्ति का बंधन अटूट माना जाता था। तांत्रिक मत के कारण इसमें पंचमकारों (मांस, मत्स्य, मद्य, मुद्रा, औरमैथुन),

पशुबलि, गुरु, भैरवी चक्रों की सृष्टि, भोग द्वारा कुंडलिनी जाग्रत करना आदि बातों को महत्व दिया जाता था। प्रारंभ में ब्राह्मण धर्म में ये बातें नहीं थी, लेकिन बाद में पशुबलि, गुरु, भैरवीचक्र आदि बातें उसमें शामिल हो गईं और जैन, बौद्ध, शैवधर्म से सम्बंधित वैष्णव धर्म भी सार्वदेशिक धर्म बन गया। यह समन्वित रूप अपभ्रंश गद्य और पद्य दोनों में रचे गए ये ग्रंथों में देखा जा सकता है।

हिन्दी साहित्य का भक्ति काल समन्वय की इस दृष्टिसे श्रेष्ठ है। कबीर, गुरु नानक, गोस्वामी तुलसीदास, और जायसी के नेतृत्व में समन्वय की यह विराट धारा सदियों से सराबोर करती रही है।

आधुनिक काल का हिन्दी साहित्य भी इस दृष्टि से पीछे नहीं है। हमारी सामरस्य और सामनस्य की महती भावना ने सदा ही सभी के दिलों को जीता है। यह सच है कि प्रायः सभी जाति यां इस देश को जीतने अथवा लूटने के उद्देश्य से आइं थीं, चाहे वह सिकंदर के नेतृत्व में आए यूनानी हों अथवा मुहम्मद गौरी के नेतृत्व में आए यवन अथवा बाबर के नेतृत्व में आए मुगलहों अथवा कोई अन्य आक्रमणकारी। कुछ तो मात्र लूट कर चले गये, कुछ ने विजित क्षेत्रों पर अपना शासन कायम किया और यहीं बस गये। जो लौट कर गए उनमें भी न जाने कितनों के हृदयों पर इस देश की संस्कृति की अमिट छाप पड़ी थी। भारत छोड़ते समय सिकंदर ने कहा था—‘मैं तलवार खींचे भारत में आया था, हृदय देकर जाता हूं। विस्मयविमुग्ध हूं। जिनसे खड्ग—परीक्षा हुई थी, युद्धमें जिन से तलवारें मिलीं थीं, उनसे हाथ मिलाकर, मैत्री का हाथ मिलाकर जाना चाहता हूं। उसके सेनापति सिल्यूकस की पुत्रीकार्ने लिया तो इस देश के रंग में ऐसी रंगी की फिर वापिस ही नहीं गई, सम्राटचंद्रगुप्त से उसका विवाह राजनीतिक संधि का परिणाम—मात्रनहींथ, बल्कि उसका इस देश की धरती से प्यार भी उसका कारण था। प्रसाद जी के नाटक ‘चंद्रगुप्त’ में उसकी भावना उसके गीत में मुखर हो उठी है—

अरुण यह मधुमय देश हमारा

जहां पहुंच अनजान क्षितिज का मिलता एक सहारा

बरसाती आँखों के बादल, बनते जहां भरे करुणा जल

लहरें टकरातीं अनंत की, पाकर जहां किनारा

हम जानतेहैं, इस देश की धरती पर विस्मय विमुग्ध होने वाला अकेला सिकंदर हीन हीं था, यहां के वर्षा जल को करुणा जल समझने वाली कार्नेलिया अकेली नहीं थी। अनेक विदेशी यात्रियों, विचारकों और महापुरुषों की एक दीर्घ परम्परा है, जिन्होंने भारतवर्ष की संस्कृति का गुणगान किया है।

भारत की सांस्कृतिक—समन्वय की अनुपम धारा युगों—युगों से रामायण, महाभारत, गीता, कालिदास, भवभूति, भास के काव्यों और नाटकों के माध्यमसे बार—बार व्यक्त हुआ है। गेटेने ‘शाकुंतलम्’ को पढ़कर उल्लसित मनोभाव में कहा था कि उसमें स्वर्ग और धरा का उदात्त सम्मिलन है, यह समूची भारतीय संस्कृति और साहित्य के संबंध में कहा जा सकता है। राष्ट्र क विमैथिली शरण गुप्त के ‘साकेत’ में संस्कृत के दिव्य ग्रन्थ गीता के सन्देश को कुछ इस तरह से अभिव्यंजित किया गया है—

“पथ दिखाने के लिए संसार को, दूर करने के लिए भूभारको,

सफल करने के लिए निजदृष्टियाँ, क्योंनकरता वह स्वयं सृष्टियाँ ॥”⁸

आत्मा की अमरता के सिद्धान्त को भी गुप्त जी ने जन-जन के मन तक प्रसारित करते हुए कहा है—

“आत्मा नमरता है नमारता, सुन मेरी गीता का ज्ञान ।

मरने और मारने वाला, इसे जानते हैं अनजान ॥”⁹

भारतीय संस्कृति में ‘वर्ण’ सामाजिक उन्नति और ‘आश्रम’ व्यक्तिगत विकास के प्रतिनिधि हैं। वुक्ति और समाज दोनों के सन्तुलित विकास से ही एक स्वस्थ राष्ट्र की कल्पना ऋषियों ने की थी, जिसका प्रमाण उनके अनेक सूक्त एवं वचन हैं, जो संस्कृत का अकूत धन है। हिन्दी साहित्य ने भी संस्कृत की इस निधि को अपने पात्रों में संजोने का उपक्रम किया है। नर – नारी की समानता और आदर्श दाम्पत्य रूप (राम का एक पत्नी व्रत होना), जिसे संस्कृत वाङ्मय का महनीय तत्व कहा जाना चाहिए, का उदाहरण हिन्दी के गुप्त कृत ग्रन्थ ‘वकसंहार’ में देखने को मिलता है, जहां एक ब्राह्मणी का संवाद है—

“मैं तुम में रतय था, तुम एक पत्नी व्रत तथा

मैं जानती हूँ तुम, कहो न कहो इसे ।” (10)

साहित्य सत्य के साथ शिवं और सौंदर्य काभी समन्वय करता है। हमारे संस्कृत साहित्य में उपर्युक्त सांस्कृतिक स्थिति का परिमार्जन और सौष्ठव युक्त रूप संस्कृत भाषा और प्राकृत भाषाओं के माध्यम से प्रकट हुआ। यह धरोहर के रूप में हिन्दी साहित्य को भी प्राप्त हुआ।

भारतीय संस्कृति में धर्म के अंगों का जा'महत्व बताया गया है, उसे भी हिन्दी साहित्य न 'जन-हृदय तक पहुँचाया है। 'दान' के अपूर्व उदाहरण बनने वा के सत्य हरिश्चन्द्र, बलि, कर्ण आदि संस्कृत के सुपात्रों की गाथाओं का गान हिन्दी साहित्यकारों ने मुक्त कण्ठसे किया है। हिन्दी कवि रामधारी सिंह दिन करकी 'रश्मि' में महादानी कर्ण के चरित्र को प्रस्तुत किया गया है, जिन्होंने भारतीय संस्कृति की इस महान्परम्परा का उत्कर्ष करते हुए अपने प्राणों की चिन्ता किए बिना अपने कवच-कुण्डल तक दान कर दिए थे।¹¹

भारतीय दर्शन – चिन्तन की परम्परा में जोगहनता और गुरुता विद्यमान है, उसे भी हिन्दी जगत नें बड़े ही सरल और सरस रूप में व्यंजित किया है। “यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत! अभ्युत्थानम धर्मस्यत “दात्मानमसृ ज्याहम” के माध्यम से गीता में भगवान कृष्ण उवाचको हिन्दी कवि तुलसीदास अपने ग्रन्थ 'रामचरित मानस'क में जब-जब होई धरम कैहानी। बाढ़ हि धरि अधम अभिमानी ॥ कर हिं अनीति जाई नहीं बरनी। सीदहिं बिप्रधेनु सुरधरनी ॥ तब तब प्रभु बिबिध सरीरा। हरहिं कृपा निधि सज्जन पीरा ॥ ३..इस प्रकार से स्पष्ट करते हैं—

प्रकृति और सृष्टि के स्वरूप को भी इन्होंने भारतीय परम्परा से ही ग्रहण किया है। कालान्तर में स्थितियां चाहे जैसी रही हों साहित्यकारों के काव्य में भारतीय सामासिक संस्कृति का उज्ज्वल अंश सर्वदा प्रकट हुआ है। आध्यात्मिक मूल्यों की भौतिक सुख- सुविधाओं परवरीयता, मनुष्य और मनुष्य के बीच प्रेम-भाव पर आधारित स्नेह संबंधों की उत्कट, बहुदेववाद के परे सगुण-निर्गुण को अतिक्रमित कर उच्चतम सत्य के अस्तित्व का गहन विश्वास, इस सत्य को शिव और सौंदर्य से समन्वित कर देखने में आस्था, गृहस्थ जीवन को एक धर्म और कर्तव्य के रूप में ग्रहण करने की कोशिश, राज सत्ता या शक्ति को शील से समन्वित करने की अपेक्षा आदि सांस्कृतिक मूल्य हिन्दी

के साहित्य में प्रकट होते हैं।

वैदिक संस्कृति की समग्रता 'गीता' में प्रकट हुई तो वही भावना मध्य युगीन संस्कृति की समग्रता 'रामचरितमानस' में आकर अवतरित होती है। एक तरफ तुलसी, कबीर, सूर, जायसी, नानक के जनमानस पर पड़े व्यापक प्रभाव को (जो मौखिक परंपरा के रूप में अधिक शक्तिशाली बना रहा) अनदेखा कर पाना संभव नहीं है तो दूसरी तरफ सांस्कृतिक पुनरुत्थान का प्रवाह जो राजा राममोहन राय से लेकर महात्मा गांधी तक भारतीय संस्कृति के मूल रूप से जुड़ विकसित हो रहा था। जब हम नए देश के सर्वांगीण विकास के लिए कटिबद्ध हुए तब नई चुनौतियां आईं, नई समस्याएं आईं और हिन्दी साहित्य का सांस्कृतिक योगदान ऐसे समय में बहुत ही महत्वपूर्ण रहा है? भारत की लुप्त प्राय सांस्कृतिक गरिमा को, संस्कृत ग्रंथों को पुनःजीवित करने का अधिकांश श्रेय हिन्दी साहित्यकारों और समाज सुधारकों को जाता है जिन्होंने अपना सांस्कृतिक सत्वखो कर पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति समर्पण नहीं किया। राजा राममोहन राय, विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती, रानाडे, तिलक, महात्मा गांधी आदि महान व्यक्तियों ने अंग्रेजों से काफी कुछ लिया, किन्तु अपनी अस्मितान हीं खोई। जातिवाद, संकीर्ण धर्माभिमान, मनुष्य की सृजन धर्मिता का अवरोध करने वाले भौतिक और धार्मिक बंधन, मनुष्य की स्वाधीनता को संकुचित करने वाले भौतिक एवं अन्य प्रकार की मान्यताएं, प्रेम और सहानुभूति का दायरा सीमित करने वाली सामाजिक रूढ़ियां, इन सबके प्रति हमें सावधान करने का श्रेय पश्चिमी संस्कृति को भी जाता है। परन्तु उनको स्वीकार करने के बाद भी 'भारतीय' के रूप में बने रहने का जो अस्तित्व, संघर्ष हमने किया वहन वोत्थान की धारा का उज्ज्वल पक्ष है, वह हमारी सांस्कृतिक विरासत का वरदान ही है। हिन्दीका राष्ट्रीय भावधारा से प्रेरित समूचा साहित्य सामान्यतः धर्मातीतता का परिचय देता है। भारतीय गौरव की पीठिका की खोज में हमारे राष्ट्रीय हिन्दी कवियों ने सामान्यतः ऐसे प्रसंगों को जहां धार्मिक कटुता के पैदा होने की स्थिति यांथी, वहां धर्मको अधिक मूलगामी एवं व्यापक सिद्धान्तों पर खड़ा कर देखा है। हमारे राष्ट्रीय काव्य के अतीत के गौरवमय साहित्य का अध्ययन किया जाए तो एक तरह की धर्मातीत मानवीयता का उदार स्रोत वहां निरन्तर प्रवाहमान है। मैथिली शरणगुप्त की निरन्तर उदारता की ओर उन्मुखता और 'राम' में किसी विशिष्ट एवं सम्प्रदाय को न देखकर व्यापक मानवीय रूप को देखना सामान्यतः हिन्दी साहित्य की राष्ट्रीयता के विकास का उदाहरण है। आगे चलकर दिनकर जैसे कवियों में राष्ट्रीयता को पूर्णतः धर्मातीत आधार मिला है। आश्चर्य तो हिन्दी साहित्यकारों की सामासिकता को देखकर तब होता है जब छायावादी काव्य में, प्रासाद के नाटकों में हिन्दूधर्म के ऐसे उदात्तरूप के प्रति समरसता है जो धर्मातीत अध्यात्म की छाया में पलती है। निराला के काव्य का चरमोत्कर्ष 'तुलसीदास' की 'राम की शक्ति पूजा' में हुआ है। दोनों के विषय हिन्दूमन को प्रभावित करने वाले हैं, परन्तु क्या किसी भी धर्म के व्यक्ति के लिए अगर वह सहृदय होने की आवश्यक शर्त पूरी करता है तो यह कविताएं सम्मोहित नहीं करतीं? महादेवी की कविता के आस्वादन के लिए हिन्दू होना आवश्यक शर्त नहीं है। कालिदास के बाद शायद पहली बार जो प्रकृति – संवेदना हिन्दी काव्य में वैभवशाली रूप में अवतरित हुई उसके समृद्ध अनुभव के लिए न किसी धार्मिक संवेदना की जरूरत है, न किसी विशिष्ट विचार की। किसी भी अनुभव का साहित्य के रूप में चरम सफलता के बिन्दु तकव्यंजित होना इस बात का द्योतक है कि उस साहित्य के रचयिता और आस्वादक दोनों उस अनुभव का अपने व्यक्तित्व के गहरे धरातल तक ले जाने में सफल हुए हैं। मतलब यह है कि एक सांस्कृतिक

सामासिकता की प्रक्रियापूर्ण हो चुकी है।

पश्चिमी संस्कृति ने जो बहुत बड़ी चुनौती भारतीय मानस को दी थी वह विज्ञान औरत कनी की विकास की थी। वैसे वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव भारतीय बुद्धि जीवियों में नहीं था। जिस समाज में नाट्य शास्त्र जैसा विश्व कोषीय ग्रंथ हजारों वर्ष पूर्व विद्यमान हो, महाभारत के शांति पर्व जैसा अध्याय रचा गया हो, दर्शन की सूक्ष्मतर चर्चाएं हुईं, पाणिनि जैसे भाषा विद्वाने भाषा को सूत्रमय बनानी अद्भुत क्षमता के दर्शन होते हों, योग, आयुर्वेद, ज्योतिष और गणित क्षेत्रों में विलक्षण प्रगति हुई हो, उस समाज के बुद्धि जीवियों में वैज्ञानिक दृष्टि ही थी यह कहना किसी भी दृष्टि से संगतन होगा। परन्तु यह भी सही है कि पिछले हजार वर्षों में यह सारा विकास हमारी प्रत्यक्ष जीवन की ठोस अनुभूति से परे की चीज हो गई थी। दूसरी बात यह भी थी कियह सारा ज्ञान जो अधिकांश रूप से मौखिक परंपरा पर निर्भर था एक छोटे से वर्ग तक सीमित रहा और जीवन के व्यवहार के साथ नाता टूट जाने के कारण वह केवल अनुपयोगी संचय की तरह कुछ लोगों के दिमाग में लगभग बंद रहा और जिनके पास यह ज्ञान था उसे जिस रूप में सामने लाया जाना चाहिए था, वैसा हो नहीं पाया।

ऐसे ही बहुत से कारण रहे हैं, जिनके चलते हम अपनी संस्कृत-वाङ्मय समृद्धि से अनभिज्ञ रहे। लेकिन आज स्थितियाँ बदल चुकी हैं। विश्व भर के अनेक भाषा विदों और साहित्यकारों ने अपने अनुसन्धानात्मक प्रयासों एवं प्रतिभामयी वाणी के द्वारा भारतीय संस्कृति की इस अद्भुत सम्पत्ति को संभाला है और उसे अपने समाज के कल्याण हेतु उपयोगी बनाया है। असंख्य संस्कृत ग्रन्थों का भारतीय भाषाओं (विशेषतः हिन्दी) में अनुवादित, रूपान्तरित अथवा लिप्यांतरित रूप में समंजन हुआ है, परिणाम स्वरूप संस्कृत की अगाधरिद्धिजन-जन तक पहुँचकर और भी कल्याण रूप हो गई है। इसी वैचारिक समन्वय का उत्कृष्ट उदाहरण है प्रसाद जी की 'कामायनी' महाकाव्य। मानव मन में बुद्धि और भावना (श्रद्धा) का द्वंद्व सनातन है। मनुष्य चाहता कुछ है और करता कुछ है। यह संघर्ष (अंतः और बाह्य दोनों) का कारण है। इन विरोधी बातों का सामंजस्य जरूरी है। यही समरसता का सिद्धांत है। इस भाव भूमि पर पहुँचने के बाद कुछ भिन्न नहीं रह जाता है। मनुने कैलास की ओर संकेत करते हुए कहा कि 'देखो यहां पर कोई नहीं पराया'। हम अन्यन और कुटुम्बी हम केवल एक हमी हैं, तुम सब मेरे अवयव हो जिसमें कुछ नहीं कमी है। यदि एक वाक्य में कहे तो अद्वैत का भाव भारत की सामासिक संस्कृति का प्राण और जिनका व्यमनीषियों ने इस अद्वैत भाव को समझा और अपनाया है, उन्होंने सांस्कृतिक समन्वय एवं एकता का मार्ग प्रशस्त किया है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त समस्त विश्लेषण के पश्चात स्वतः स्पष्ट है कि भाषा और साहित्य किसी भी देश की संस्कृति और सांस्कृतिक सम्बन्धों का प्रमुख मूल आधार होती है। भारत के सन्दर्भ में भी यह अक्षरशः सत्य है। भारतीय संस्कृति की पहचान, इसकी सामरस्य, सामनस्य और सामंजस्य की भावना है, जो अनेकशः भाषाओं और मौखिक अथवा लिखित साहित्य के माध्यम से प्राचीन परम्परा से आज के समय तक पहुँची है। यही पवित्र शाश्वत भावना हमारी संस्कृति की महती परम्परा भी है और समयानुसार नित्य-नवोन्मेषालिनी परिवर्तनशीलता इसकी आधुनिकता का आधार भी है। हिन्दी भाषा और साहित्य के नेतृत्व में अन्य विविध भाषाओं, उनके लौकिक एवं विशिष्ट साहित्य के

माध्यम से विश्व-व्यापी संस्कृति संरक्षित एवं संचरित हो रही है। इसउपक्रम में देशवासियों और प्रवासियों के अनेकविध सृजनात्मक योगदान एवं प्रयास को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक संचय, संरक्षण और उसे आगे संचरित करने के लिए भाषा और साहित्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं, जो सतत समाज की भूमिका में परमावश्यक एवं अत्यन्त अनिवार्य है।

सन्दर्भ

1. अरुण कुमार जायसवाल, वैदिक संस्कृति के विविध आयाम, पृ.435
2. M-Winternitz, A History of Indian Litteratur vol-viii p-8
3. अरुण कुमारजायसवाल, वैदिक संस्कृति के विविध आयाम, पृ.437
4. अरुण कुमारजायसवाल, वैदिक संस्कृति के विविध आयाम, पृ.438-39
5. G-T-Garret [edit]The Legacy of India],p-31
6. अरुण कुमार जायसवाल, वैदिक संस्कृति के विविध आयाम, पृ.437
7. जयशंकर प्रसाद, चन्द्रगुप्त, पृ. 72
8. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत,पृ.18
9. मैथिलीशरण गुप्त, गुरुकुल, पृ.251
10. मैथिलीशरण गुप्त, वकसंहार,पृ.26
11. रामधारी सिंह दिनकर, रश्मि रथी,पृ.60